पेरिस
मार्च २८, २००६

सन्देश संख्या १६४

सिएटल के भक्त का पत्र

परम प्रिय गुरूजी,

मैं एक कविता प्रस्तुत कर रहा हूँ जो मेरी अवस्था को दर्शाती है :–

धूर्त 'मैं' मन और विचार एक ही है,
इनका प्रयास करता है अन्तर्जगत के सूर्योदय को अवरूद्ध ।
विचारों का कुहासा प्रज्ञा के प्रकाश को रोक देता है, जबकि,
करता है वही प्रकाश अस्तित्व को निर्मल और शुद्ध ।
यत्र–तत्र–सर्वत्र छिपे हुए हैं ये,
हमारे अस्तित्व को अपने दु जाल में फँसा रहे हैं ये ।
मेरी थोड़ी असावधानी से ये अन्दर आ गए,
सहसा, मुझे, निराशा के बादलों और दुःख की वर्षा से नहला गये ।
अनुभवों पर ध्यान करना पहुँचा देता है दुःख के दलदल में
और फिर खो जाता है 'मैं' भूत–भविष्य की भूल–भुलैया में ।
फिर भी हृदय के अन्तरतम से निकली एक ध्वनि,
और मेरे कानों में फुसफुसा उठी स्वाध्याय की वाणी ।
करने लगा मैं क्रिया अभ्यास, बिना किसी आशा प्रत्याशा के,
पुनः मिल गया आनन्द, दूर हुई निराशा ।
ये आनन्द के आँसू ही नहीं, हैं सचमुच ये रत्न भी
याद दिलाते हैं सदा क्रिया की है जरूरत मुझे ।
यह क्रिया दूर करती है – तम, कुहासा और प्रदूषणों की वर्षा को
पुनः प्रवेश कर सकते हैं उसमें जिसमें जीवन और प्यार है ।
अब मैं देखता हूँ – क्रिया की महिमा और पवित्रता,
धन्य हूँ मैं जो गा सका यह कविता ।
परमगुरू, आपने न कभी भ्रम में डाला, न कभी मिथ्या आश्वासन दिया,
चाहे कितनी ही बार क्यों न हो मैंने पुकारा ।
पा लिया मैंने प्रेम और जीवन, क्योंकि,
हो गया है सभी दुःखों व संघर्षों का लय ।
घर जैसा कोई स्थान नहीं, और कहीं भटकने की जरूरत नहीं,
घर जैसा कोई स्थान नहीं, और कहीं भटकने की जरूरत नहीं ।

पुनः 'घर' में होने अर्थात् स्वाध्याय के साथ क्रिया अभ्यास करने से जीवन समझदारी से पूर्ण है, आनन्द से भरा हुआ है ।

हमेशा की तरह,
आपका,

न्यूयार्क के भक्त को पत्र

प्रिय................,

यदि हमलोग यह नहीं जान सकते कि जीवन क्या है, तब क्या हमलोग कभी यह जान सकते हैं कि मृत्यु क्या है? तुम्हारे पास केवल जीवन के बारे में अवधारणायें हैं, और वे विचार हैं तुम्हारे मानसिक निवेशों के बारे में; धन–सम्पत्ति, नाम, परिवार, सफलता या असफलता आदि के साथ अपनी पहचान के बारे में; दूसरों से जीवन के बारे में सीखी गई उधारी अवधारणओं एवं अनुमानों के बारे में; जिन वस्तुओं के साथ रहे हो, उनके बारे में तथा जो तुम बनना चाहते हो, उसके बारे में । तुम उन्हीं से बने हो जिनमें तुम्हारी आसक्ति रही है । उन सबके नहीं होने पर, तुम कुछ नहीं हो ।

जीवन का न कोई प्रारम्भ है, न अन्त । न यह जन्म लेता है, न मरता है। यह तो अविभाज्य अस्तित्वमय दिव्यता है । 'मरणोपरान्त जीवन में इसकी रूची नहीं होती । तुम जीवन के बारे में इसकी धारणाओं,जीवन

से पृथकता, भ्रांति ''मैं'' आदि के इतने वशीभूत हो कि मरणोपरान्त क्या होता है, उसकी चिन्ता करने लगते हो ।

एक जीव में जीवन की जो अभिव्यक्ति होती है, वह मृत्यु होने पर समाप्त हो जाती है । अन्तर्श्वास को बहिर्श्वास में समाप्त होना ही होता है क्योंकि वे दोनों ही श्वास के अंग हैं । अतः अन्तर्श्वास, बहिर्श्वास का विरोधी या उसके विपरीत नहीं है । उसी तरह, जीवन को भी मृत्यु में समाप्त होना है क्योंकि मृत्यु भी जीवन का ही हिस्सा है । इसलिए जीवन मृत्यु के विपरीत नहीं हो सकता । यह क्षुद्र ''मैं'' ही मृत्यु का विरोधी है और वही लच्छेदार मुहावरों, 'पवित्र' अवधारणाओं तथा सुन्दर प्रतीत होने वाले झूठ की सहायता से मृत्यु के बाद की अवस्थाओं के बारे में अनुमान करता रहता है । ऐसा कोई मार्ग नहीं है जिससे तुम्हारा ''मैं'' असीम और अज्ञेय जीवन को जान सके । यह जीवन ही दिव्यता है, भगवत्ता है । तुम्हारे पास केवल सीमित और ज्ञेय को जानने योग्य यदि दीक्षा–अनुष्ठान के दौरान तुम्हारा सुनना घटित हुआ होता तो यह प्रश्न और इसके प्रश्नकर्त्ता, दोनों का लय हो गया होता । अभी भी, यह संवाद व्यर्थ है क्योंकि तुम शायद इतने हठी हो कि इसे समझ नहीं सकते ।

बहुत–बहुत प्यार !

।। जय गुरू ।।